

## इकहरी आधुनिक अस्मिताएँ और भक्ति काव्य

अरविन्द कुमार यादव

तदर्थ प्राध्यापक, हिन्दी विभाग, शिवाजी कॉलेज, दिल्ली विश्वविद्यालय, दिल्ली, भारत।

प्रस्तावना

भक्ति काव्य पर समकालीन बहसों में दलित और स्त्री विमर्श के द्वारा उठाये गए प्रश्न बहुत महत्वपूर्ण हैं। मध्यकाल में विभिन्न सम्प्रदायों और धार्मिक मतों के बीच बनने वाली अस्मिताएँ बहुत तरल होती थीं। तरल पहचानों वाली ऐसी अस्मिताएँ आधुनिक अस्मितावादी विमर्श के दबाव में, उसकी इकहरी संकल्पना के चलते कई विवादों को भी जन्म देती आयी हैं। मसलन विद्यापति शैव थे या वैष्णव, कबीर के निर्गुण पंथी होने और वैष्णव होने, रामानंदी होने या उनके द्वारा शाक्तों को गाली देने को कैसे देखा जाये आदि प्रश्न। जन्माधारित या रक्ताधारित अस्मिताओं का संत काव्य में पुरजोर विरोध है। इस प्रकार ही वह जाति व्यवस्था और धर्म की मूलभूत आलोचना करने में सक्षम है। भक्ति और वैष्णवता के अनिवार्य और दृढ़ संहितकरण (रिजिड कोडीफिकेशन) ने लम्बे समय तक एक इकहरी वैष्णव अस्मिता के निर्माण की चेष्टा की। इस वैष्णवता को परिभाषित करने के क्रम में कभी कृष्णभक्ति को केन्द्रीयता मिली कभी राम को। लेकिन आश्चर्य तब होता है जब समकालीन विमर्शों और खास कर दलित विमर्श और स्त्री-विमर्श के बेकार और गैर उत्पादक पहलुओं की आलोचना का दावा करने वाला 'कवि कबीर' को वैष्णवता के केंद्र में रखता है। कबीर की संवेदना को बनियों की संवेदना बताना और फिर कबीर की भक्ति को नारदीय भक्ति में सीमित (रेड्यूश) करते हुए गांधी की देशज आधुनिकता से उसके संबंध स्थिर करना एक नयी तरह का अस्मिता विमर्श ही है। धर्मवीर ने कबीर की जो दलित छवि पेश की थी और जिसके सहारे एक नए दलित धर्म का संस्थापक बताने की कोशिश हुई उसकी आलोचना करते हुए अगर पुरुषोत्तम अग्रवाल कबीर को बनियों का प्रतिनिधि बनाते हुए उनको 'देशज आधुनिकता' का अग्रदूत बताते हैं तो फिर एक भिन्न प्रकार की अस्मिता का ही निर्माण होता है।

इकहरी आधुनिक अस्मिताओं के विरोध निर्माण का यह प्रयास मनोरंजक है। औपनिवेशिक अतीत को षडयंत्रों का पिढारा साबित करते हुए औपनिवेशिक पूर्व 'भक्ति के लोक वृत्त' को इतना प्रगतिशील साबित कर दिया कि वहाँ जात-पात के भेद खत्म हो गए और एक सामाजिक प्रवर्ग के रूप में जाति के बंधन और उन बंधनों के कारण होने वाली साहित्यिक अभिव्यक्तियाँ और पंथों के खास जातिगत गठन के प्रश्न ही बेमानी हो गये। इन विद्वानों के लिए 'आरंभिक-आधुनिक काल' में शुरू हुए समरस-समतापरक समाज के निर्माण की प्रक्रिया को रोकते हुए औपनिवेशिक ज्ञानमीमांसा ने जाति व्यवस्था को फिर से

जिंदा किया और जाति का नया आविष्कार किया। और इसलिए भक्ति को सगुण-निर्गुण के विशिष्ट सामाजिक सन्दर्भों से अलग करके उसे 'शास्त्रोक्त और काव्योक्त भक्ति' के संस्कृत काव्यशास्त्रीय चरम से देखने की सलाह दी जाने लगी। दूसरी ओर कुछ विद्वान गैर ऐतिहासिक, जड़ अवधारणा के रूप में जाति को व्याख्यायित करते हुए कबीर आदि संतों को धार्मिक ईश्वरवाद के प्रतीक में बदलने की कोशिश भी करते हैं। इन विमर्शों में भक्ति का उद्भव और उसके राष्ट्रीय अस्मिता और राष्ट्रवाद के आख्यान में भी गजब का पेशोपेश चलता रहा है। उत्तर औपनिवेशिक विमर्श भी अस्मिताओं की इकहरी राजनीति का विरोध करते हुए नए अस्मिता का निर्माण करता है। इस प्रक्रिया में सामाजिक सम्बन्धों के इतिहास को औपनिवेशिक उत्पाद साबित करता है। इन अस्मिताओं में खुद 'भक्ति' भी एक अस्मिता बन जाती है और इस प्रकार एक सम्पूर्ण 'भक्ति' की अवधारणा में उसके आंतरिक अंतर्विरोध मिटा दिए जाते हैं या उसे औपनिवेशिक ज्ञानकाण्ड की उपज बताते हैं। भक्ति के उद्भव का प्रश्न भी इसी प्रकार अपना रंजक इतिहास लेकर आता है।

भक्ति के उद्भव और प्रसार के दो आख्यान हमें पुराने वक्त में मिलते हैं। यह कहना अभी संभव नहीं है कि ये दो आख्यान निश्चित रूप से औपनिवेशिक काल के पूर्व के हैं या नहीं। इसमें पहला संस्कृत में है और दूसरा देशी भाषा में। संस्कृत वाला आख्यान 'भागवत महात्म्य' में है जो कि 'भागवत' के पहले जोड़ा गया है और निश्चित रूप से सतरहवीं शताब्दी के आसपास से पहले का नहीं है। खुद भक्ति ने नारद को कहा था:

उत्पन्नम् द्रविडं साऽहम् वृद्धिम् कर्णाटके गता।

क्वचित् क्वचित् महाराष्ट्रे गुर्जरे जीर्णताम् गता।

और फिर वृन्दावन में आने से वह पुनः जवान हो गयी है लेकिन उसके कर्म और ज्ञान नामक दो पुत्र अभी भी वृद्ध हैं और अचेत पड़े हैं यमुना के तट पर। इनके सुस्थित होने के लिए भी भागवत पाठ की जरूरत होती है।

दूसरा है एक दोहा जिसे सब जानते हैं लेकिन कोई यह नहीं कह पाता कि इसका उल्लेख पहले सर्वप्रथम कहाँ हुआ था :

भक्ति द्राविड ऊपजी लाए रामानंद

प्रगट किया कबीर ने सप्तद्वीप नवखण्ड।

पहला दोहा तो निश्चित रूप से किसी कृष्ण भक्ति के सम्प्रदाय का लिखा हुआ है। और दूसरा शायद किसी निर्गुणपंथी का। परन्तु भक्ति के दक्षिण में उत्पन्न होने और उत्तर में आने को लेकर दोनों ही आख्यान सहमत हैं। भक्ति के इन दोनों आख्यानो से जुड़े हुए कुछ वाजिब प्रश्न हैं। अगर ये आख्यान औपनिवेशिक काल के पहले के हैं तो फिर निश्चित है कि औपनिवेशिक काल के पहले ही भक्ति के दो आख्यान थे, भक्ति के दो स्वरूपों पर चर्चा थी। एक कबीर को भक्ति का अग्रदूत बताता है दूसरा ब्रजभूमि को। हो सकता है यह केवल साम्प्रदायिक प्रतिष्ठा का सवाल हो। यह भी हो सकता है कि भक्ति के दो स्वरूप आरम्भ से ही लोगों के सामने स्पष्ट हो। और अगर यह आख्यान औपनिवेशिक काल की निर्मित हैं तो फिर मानना होगा कि भक्ति के दो स्वरूपों की चर्चा औपनिवेशिक ज्ञानमीमांसा से सम्बंधित हैं। इन दोनों आख्यानो से ही भक्ति के सगुण-निर्गुण स्वरूपों का प्रश्न भी जुड़ा है। कुछ विद्वान मानते हैं कि भक्त कवियों के यहाँ सगुण-निर्गुण दो भिन्न भक्ति की अवधारणाएँ थीं और यह केवल भगवान के दो भिन्न स्वरूपों से आगे जाकर खास सामाजिक आधारों वाली विचारधारा थी। इन दो भिन्न भक्ति अवधारणाओं के निम्न और उच्च जातियों से स्पष्ट संबंध थे। निर्गुण भक्त कवि में सामाजिक प्रतिरोध की चेतना थी। कुछ विद्वानों के अनुसार यह विभाजन पंथ निर्माण की प्रक्रिया से जुड़ा है और इसकी निर्मित सतरहवीं शताब्दी के अंत और अठारहवीं शताब्दी के आरम्भ में हुई थी। कुछ विद्वान इसे औपनिवेशिक ज्ञान कांड की उपज बताते हैं। मिला-जुलाकर अभी भी कोई स्पष्ट मान्यता या मोटा-मोटी समझदारी इस विषय पर बन नहीं पायी है। मनोरंजक बात यह है कि आधुनिक काल में हुए भक्ति विषयक चिंतन में होने वाले परिवर्तनों का तरीका (पैटर्न) भी इन दो आख्यानो में निरूपित भक्ति के स्वरूप की ओर इशारा करता है। भारतेंदु की वैष्णव भक्ति से लेकर निर्गुण पंथ और संत मत के क्रांतिकारी अंतर्वस्तु की पहचान तक, औपनिवेशिक काल में हुए भक्ति के अर्थ परिवर्तन में भी मोटे तौर पर इन दो आख्यानो जैसी भिन्नता दिखाई देती है। अगर ये आख्यान औपनिवेशिक काल से पूर्व के हैं तो मानना पड़ेगा कि औपनिवेशिक काल के चिंतन की दिशा भिन्न पड़ावों को पार करते हुए औपनिवेशिक पूर्व भक्ति की भिन्न-भिन्न मान्यताओं के आख्यान के करीब ही पहुँच रही थी, निश्चित रूप से अपने नए राजनीतिक उद्देश्यों के साथ। तब फिर औपनिवेशिक पूर्व सामाजिक-राजनीतिक भिन्नताओं की एक धारा औपनिवेशिक काल में भी सक्रिय रही ऐसा माना जा सकता है जिसका अलग-अलग स्तरों पर उपनिवेशवाद विरोधी विचारधारा के साथ अलग-अलग अन्तर्क्रियाओं की संभावना से इनकार नहीं किया जा सकता। अर्थात् औपनिवेशिक राजनैतिक कर्ता (colonial political subject) के रूप में भक्ति पर चिंतन करने वालों और व्यापक जनसमुदाय, जो उस तरह से सीधे औपनिवेशिक शासन के विषय नहीं थे, उनके चिंतन और प्रतिक्रियाओं के मनोरंजक स्वरूप सामने आ सकते हैं।

इतना तो तय है कि भक्ति के स्वरूप को लेकर चलने वाली उपनिवेशकालीन चर्चा का कुछ सम्बन्ध तो उपनिवेशपूर्व चर्चाओं के पैटर्न से भी है। लेकिन जब हम औपनिवेशिक ज्ञानकाण्ड को सर्वथा आधिकारिक औपनिवेशिक संवेदना की निर्मित से जोड़ते हैं तो उसे निहायत ही नए संबद्ध विच्छेदक क्षण (moment of dissociation) के रूप में देखते हैं। यह उत्तर-औपनिवेशिक इतिहास दृष्टि का प्राथमिक आधार है। लेकिन क्या औपनिवेशिक ज्ञानकाण्ड ने पहले की ज्ञान परम्पराओं और ज्ञान के लोकपरक आख्यानो को सचमुच ही एक सिरे से बदल दिया? इसी सवाल को रंजीत गुहा ने भी दूसरे तरीके से 'Dominance without Hegemony' में उठाया है।

अंग्रेजी राज की विचारधारा के मूर्तिमान ज्ञानकाण्ड के कारण शुरू हुई राजनीति और उस ज्ञानकाण्ड के बाहर पड़ी जनता की असंबद्ध विचारधारात्मक निर्मित (loose ideological construct) के बीच क्या सचमुच कोई अंतर नहीं था? क्या सचमुच सूर के भ्रमरगीतों और तुलसी की रचनाओं में मिलने वाला प्रखर निर्गुण विरोध (वैचारिक और सामाजिक), और बाद के पंथों की एक खास सामाजिक पृष्ठभूमि, जिसको 'कबीरपंथ और सामाजिक प्रतिरोध' जैसे अध्ययनों में डेविड लोरेंजन जैसे विद्वानों ने दिखाने की कोशिश की है, का कोई अर्थ नहीं है? क्या अठारहवीं सदी में ब्राह्मणवाद और राज्य सत्ता के संबद्ध में होने वाले नए परिवर्तनों का चरित्र हमें खुद भक्ति में निहित स्वरूपगत भेद की ओर ध्यान नहीं दिलाता? क्या तब भक्ति के किसी ऐसे लोकवृत्त की कल्पना की जा सकती है जो अंतर्विरोध से रहित हो? क्या भक्ति का सगुण वृत्त खुद आधिकारिक वृत्त के लिए वैचारिक और सामाजिक आधार नहीं रखता था? क्या औपनिवेशिक काल में भक्ति के सगुण राम भक्ति लोक वृत्त का आधिकारिक औपनिवेशिक वृत्त बनना उस खास ऐतिहासिक प्रक्रिया की तार्किक परिणति नहीं है जिसको मुक्तिबोध ने निर्गुण भक्ति के क्रांतिकारी दांत उखाड़ने वाली कह कर सगुण रामभक्ति की ओर इशारा किया था? इस प्रक्रिया को समझे बिना हम उस गलती को भी नहीं समझ पायेंगे जो रंजीत गुहा जैसे सबाल्टर्न इतिहासकार की भक्ति विषयक समझदारी से होती है। इन इतिहासकारों के लिए भक्ति की औपनिवेशिक परिभाषाएँ ही, जिसमें भक्ति को एक सगुण समर्पणवादी सामंती विचारधारा की तरह देखा गया है, व्याख्या का आधार बनती है। इसीलिए ये इतिहासकार भक्ति को सामंती अधीनस्थता की विचारधारा के रूप में देखते हैं और इस एकपक्षीय विचार के कारण औपनिवेशिक अधीनस्थता के लिए पहले से उपलब्ध विचारधारा के रूप में भक्ति को निरूपित करते हैं।<sup>12</sup> प्रतिरोध की विचारधारा के रूप में भक्ति का निर्गुण आख्यान उनकी निगाह से गायब रहता है, और इसीलिए औपनिवेशिक प्रभुत्व का भी गैर द्वंद्वात्मक निरूपण हो जाता है। इसलिए ये सबाल्टर्न एक स्तर के बाद बकिम और गांधी के माध्यम से ही निम्नवर्गीय इतिहास लेखन का दावा करते हैं। और इसी प्रवृत्ति की ओर हिन्दी के कुछ विद्वान आलोचक 'आरंभिक आधुनिकता' के आख्यान के सहारे पहुँचते हैं। मजेदार बात है की इनके पास सामंतवाद आलोचना की कोई श्रेणी (कैटेगरी) ही नहीं

होती। यहाँ यह भी देखना मजेदार होगा कि 'औपनिवेशिक ज्ञानकांड' के प्रभाव में पैदा हुए राजनीतिक आन्दोलनों ने उपनिवेशपूर्व के सामाजिक-राजनीतिक अंतर्विरोधों को कैसे एक निश्चित दिशा प्रदान की और इनका विभिन्न सामाजिक वर्गों की विश्वदृष्टि पर कैसा प्रभाव पड़ा। दरअसल औपनिवेशिक ज्ञानकाण्ड की द्वंद्वत्मकता को समझने का प्रयास चर्चा के केंद्र में लाना होगा। पिछले परिच्छेद में मुक्तिबोध के हवाले से इसी द्वंद्वत्मकता की ओर इशारा किया गया था। भक्ति की वर्तमान दलितवादी व्याख्याओं को समझने के लिए इस द्वंद्वत्मकता को समझना बेहद जरूरी है। तब हमें उत्तरौपनिवेशिक इतिहास दृष्टि की सीमाएं भी स्पष्ट दिखाई देने लगेंगी।

संदर्भ

1. यह स्थापना मूल रूप से पुरुषोत्तम अग्रवाल की है, जिसे वह अपनी किताब 'अकथ कहानी प्रेम की : कबीर की कविता और उनका समय' में सामने रखते हैं।
2. देखें. Ranajit Guha. "Dominance With out Hegemony and Its Historiography", in 'Subaltern Studies VI: Writing on South Asian History and Society'; ed. by Ranajit Guha; pp. 257-265; Oxford, New Delhi 1989. jathr xqgk fy[krs gSa : "If the politics of collaboration was informed by the Humean idiom of obedience& however uneasy that obedience might have been under the hushed, almost hopeless, urge for enfranchisement among the colonized& it drew its sustenance, at the same time, from a very different tradition& the Indian tradition of Bhakti. All the collaborationist moments of subordination in our thinking and practice during the colonial period were linked by Bhakti to an inert mass of feudal culture which has been reproducing loyalism and depositing it in every kind of power relation for centuries before the British conquest".